



अध्याय ३
कर्म योग

अध्याय ३ – कर्म योग

अर्जुन उवाच।
ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥ ३-१ ॥

अर्जुन ने कहा - हे जनार्दन, हे केशव, यदि आपके अभिप्राय में ज्ञानयोग कर्म से बेहतर है, तो फिर ऐसे हिंसात्मक कार्य में आप मुझे क्यों संलग्न कर रहे हैं?

व्यामिश्रेणोव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाम्भुयाम् ॥ ३-२ ॥

आपके वचन मुझे परस्पर-विरोधी लग रहे हैं और अब मेरा मन भ्रमित हो गया है। इसलिए, कृपया मुझे यह बताएं कि कौनसा पथ मेरे लिए उत्तम है।

श्रीभगवानुवाच ।
लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥ ३-३ ॥

भगवान् श्री कृष्ण ने कहा - हे दोष-रहित, पहले मैंने इस लोक में पाए जाने वाले दो प्रकार के मार्गों को बताया है - अनुभवाश्रित दार्शनिकों के लिए ज्ञान का मार्ग, और कर्म से आसक्त लोगों के लिए कर्म का मार्ग।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्रुते ।
न च सन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ३-४ ॥

केवल कर्म से निवृत्त होकर कोई भी निष्कर्म की दिव्य स्थिति प्राप्त नहीं कर सकता, और केवल परित्याग के माध्यम से सिद्धि प्राप्त नहीं होती।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिर्जगुणैः ॥ ३-५ ॥

कोई एक पल के लिए भी कर्म से निवृत्त नहीं हो सकता। वास्तव में त्रिगुणों के प्रभाव से सभी जीव कर्म करने के लिए विवश हो जाते हैं।

~ अनुवृत्ति ~

भगवद्गीता का उद्देश्य जीवन की शारीरिक धारणा से हमें उपर उठाकर चेतना (आत्मा) के स्तर पर पहुंचाना है, या दूसरे शब्दों में हमें यह ज्ञात कराना कि आत्मा का स्वरूप क्या है। श्री कृष्ण ने पहले ही दूसरे अध्याय में इसका वर्णन किया है, किंतु ऐसा लगता है कि अर्जुन को कृष्ण की व्याख्या में असंगति दिखाई दे रही है। इसलिए अर्जुन ने कृष्ण से ज्ञानयोग और कर्मयोग को अधिक विस्तार में समझाने का अनुरोध किया। नए लोगों में यह उलझन सामान्य है - क्या कोई सांसारिक प्रसंगों से अछूत होकर एक ज्ञानी बन जाए, या क्या अपने निर्धारित कर्तव्यों का निर्वाह करे?

अन्ततः कृष्ण के उपदेशों से हमें यह समझना चाहिए कि ज्ञान और उचित कर्म दोनों ही परस्पर एक दूसरे पर निर्भर हैं। एक के बिना दूसरा अधूरा है। वे कर्म जिन्हें कभी कभी धार्मिक माना जाता है, बिना तात्त्विकी आधार के वे केवल भावनात्मक हैं, और साधना विधि रहित तत्त्वज्ञान केवल एक परिकल्पना है। ठोस तात्त्विकी आधार रहित धार्मिक विधियाँ प्रायः धर्माधता की ओर ले चलती हैं जिसका परिणाम विनाश और मृत्यु है। हमारी आधुनिक दुनिया इस समस्या को भली भांति जानती है।

जो मानव-जीवन की परिपूर्णता प्राप्त करना चाहता है, उसके लिए तत्त्वज्ञान और साधना की परस्पर-निर्भरता अपरिहार्य है। कोई भी कार्य उचित ज्ञान सहित ही करना चाहिए, केवल तब हम उचित परिणाम प्राप्त कर सकेंगे और सच्चे योगी बन सकेंगे।

कर्मन्दियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ ३-६ ॥

जो बाहर से इन्द्रियों का नियन्त्रण करे किंतु मानसिक स्तर पर विषय वस्तुओं का चिंतन करे, वह पाखंडी कहलाता है।

यस्त्वन्दियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मन्दियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ ३-७ ॥

जब की, हे अर्जुन, जो व्यक्ति अपने मन के द्वारा इन्द्रियों को वश में रखे और उन्हें बिना किसी लगाव के कर्मयोग में नियुक्त करे, वह श्रेष्ठतर है।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्धेदकर्मणः ॥ ३-८ ॥

तुम्हे अपने निर्धारित कर्मों को करना चाहिए, क्योंकि कर्म करना, निष्क्रिय रहने से बेहतर है। कर्म किए बिना तुम अपना अस्तित्व भी कायम नहीं रख सकते।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥ ३-९ ॥

सारे कर्मों को यज्ञ द्वारा विष्णु पर समर्पित करना चाहिए। अन्यथा सभी कर्म हमें इस भौतिक जगत से बांधते हैं। हे कुन्तीपुत्र, केवल ईश्वर के लिए कर्म करो और इस प्रकार तुम सारे बंधनों से मुक्त हो जाओ।

~ अनुवृत्ति ~

वेदों के निर्देशानुसार सारे कर्म विष्णु या श्री कृष्ण को समर्पित करते हुए किए जाने चाहिए - यज्ञो वै विष्णुः। इस संसार में कोई भी देहधारी जीव एक पल के लिए भी कर्म को छोड़कर नहीं रह सकता क्योंकि यहां त्रिगुणों के प्रभाव से सभी कर्म करने के लिए मजबूर हैं। कहा जाता है कि आत्मा का वास्तविक स्वभाव परम पुरुष श्री कृष्ण की सेवाकार्य में संलग्न रहना है। इसलिए सभी कार्यों को विष्णु या कृष्ण से जोड़ा जाना चाहिए और केवल उनकी तृप्ति के लिए ही कार्य किए जाने चाहिए। यही आत्मा की वैधानिक अवस्था है।

उपर्युक्त श्लोकों से यह स्पष्ट होता है कि कर्म न करने से कर्म करना ही श्रेष्ठतर है। जैसा कि अंग्रेजी में कहा गया है, “एक निरुद्योग मन शैतान का कारखाना होता है” (An idle mind is the Devil's workshop). यदि इन्द्रिय कोई कर्म में संलग्न नहीं होता है और इस स्थिति में यदि कोई मन को खाली रखने का प्रयास करता है, तो प्रायः देखा जाता है कि मन निरर्थक विचारों में उलझ जाता है, और अंततः विषय-वस्तुएं मन और इन्द्रिय, दोनों को अपनी ओर खींच ले जाती हैं।

आत्मा पर त्रिगुणों के प्रभाव को ही माया कहते हैं। माया परम-सत्य की ही बहिरंगा-शक्ति है। जब आत्मा अनुचित तात्त्विकी समझ या अनुचित कार्यों के कारण परम-सत्य से अलग या वियोजित हो जाती है, तो उसका परिणाम केवल भ्रांति, उलझन और सांसारिक बन्धन ही होता है।

श्रीमद्भगवद्गीता

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्टा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥ ३-१० ॥

सृष्टि के प्रारम्भ में, ब्रह्माजी ने यज्ञविधीयों के साथ-साथ मानव-जाती की रचना की, और फिर कहा, “इस यज्ञ के माध्यम से तुम्हारा कल्याण हो। तुम्हारी सभी कामनाओं को यह पूरी करे।”

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ ३-११ ॥

यज्ञों से तृप्त होकर देवताएं तुम्हें भी तृप्त करेंगे। इस प्रकार परस्पर सद्भावना से तुम परम लाभ प्राप्त करोगे।

इष्टभोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुज्ञे स्तेन एव सः ॥ ३-१२ ॥

तुम्हारे यज्ञ कार्यों से संतुष्ट होकर देवताएं तुम्हारे जीवन की सभी आवश्यकताएं प्रदान करेंगे। परन्तु यदि देवताओं को अर्पित किए बिना कोई इस दान का उपभोग करता है तो वह चोर कहलाता है।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुज्ञते ते त्वघं पापा ये पञ्चन्त्यात्मकारणात् ॥ ३-१३ ॥

यज्ञ में अर्पित खाद्य के अवशेषों का ग्रहण करके सन्त सभी तरह के पापों से मुक्त हो जाते हैं। परन्तु जो मात्र अपने स्वार्थ के लिए भोजन पकाते हैं वे केवल अपने भौतिक बन्धन को बनाए रखते हैं।

अन्नाद्ववन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः ।
यज्ञाद्ववति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्धवः ॥ ३-१४ ॥

सभी जीव-जन्तु आहार पर निर्भर होते हैं, और आहार वर्षा से उत्पन्न होता है। वर्षा यज्ञ कार्यों से उत्पन्न होती है, और यज्ञ कर्म से पैदा होता है।

~ अनुवृत्ति ~

दसवें श्लोक में ब्रह्मा को सृष्टि का रचयिता कहा गया है। वेदों के अनुसार, संसार में ब्रह्मा ही सर्वप्रथम जीव हैं जो सीधे विष्णु से प्रकट होते हैं। ब्रह्मा का प्रकार्य ग्रह-मण्डलों के दूसरे दरजे के सृष्टा के रूप में है। आधुनिक समय में, कुछ नास्तिक विचारक, जैसे कि आक्सफर्ड विश्वविद्यालय के क्रमविकासीय जीवविज्ञानी रिचार्ड डॉकिन्स ने स्वीकार किया है कि संभवतः किसी परग्रहियों ने ही धरती पर जीवन का बीज बोया है। हम में से कुछ लोगों के लिए यह बात कोरी कल्पना सुनाई दे सकती है, किंतु यह विचार निस्संदेह सत्य के बहुत निकट

भारत के प्राचीन शास्त्र कहते हैं कि ब्रह्मदेव जग के सर्वोच्च लोक में रहते हैं जिसे सत्यलोक कहा जाता है। फिर ब्रह्मदेव के कुछ पुत्रों को, जिन्हें प्रजापति कहा जाता है, उन्हें ब्रह्मांड में हर जगह जीवन को आरंभ करने के लिए भेजा गया। परन्तु ब्रह्मदेव को एक परग्रही मानने के बजाय वैदिक शास्त्र उन्हें ब्रह्मांड के सभी जीव-जन्तुओं के पिता के रूप में दर्शाते हैं।

जबसे पश्चिमी सभ्यता वैदिक देव समूह के संपर्क में आई है तब से यह अनुमान जारी है कि वैदिक जनसमूह, जिन्हें अक्सर हिंदू कहा जाता है, वे 'पैगन' हैं - पैगन वे लोग होते हैं जो अनेक देवी-देवताओं की पूजा करते हैं, किसी एक परम भगवान् की नहीं। इस प्रकार पश्चिमी अवेक्षक इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि एक-ईश्वरवाद का जन्म पश्चिम के अब्राहमिक धर्मों में ही हुआ था। किंतु यह बात सत्य नहीं।

वैदिक देव-समूह में अवश्य अनेक लघुतर देव हैं, किंतु वैदिक शास्त्र इस बात पर स्पष्ट हैं कि केवल एक ही परम-पुरुष या परम-प्रज्ञा है जो सबसे ऊपर है। उसे ब्रह्मन, परमात्मा, भगवान्, विष्णु या कृष्ण कहकर संबोधित किया जाता है। जैसा की ऋग्वेद (१.२२.२०) में कहा गया है

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूर्यः दिवीव चक्षुराततम् ।

विष्णु के दिव्य चरण सबके ऊपर उसी प्रकार विद्यमान हैं, जिस तरह सूर्य सबके सिर के ऊपर होता है। विष्णुजी के पावन चरण हमारे सिर के ऊपर एक वैभवशाली संरक्षक के सूर्य-समान चौकन्ने आँखों कि भाँति है।

श्रीमद्भागवतम् कहता है -

एते चाम्श कलाः पुम्सः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् ।

विभिन्न अवतार, या तो भगवान् के विस्तृत प्रभाव हैं या उनके विस्तृत प्रभावों के अंश हैं। किंतु श्री कृष्ण इन अवतारों के मूलस्रोत हैं। (श्रीमद्भागवतम् १.३.२८)

ऐतिहासिक तौर पर, यह मान लेना अनुचित है कि एक-ईश्वरवाद का विकास अब्राहमिक सभ्यताओं में किसी भी बाहरी प्रभाव के बिना हुई थी। असल में, ५०० ईसापूर्व में राजा साइरस के बेबीलोन व यहूदिया प्रांत पर विजय के पश्चात, अब्राहमिक धर्मों ने एक-ईश्वरवाद के विचार को फारसियों से ग्रहण किया। फारसियों के आगमन से पहले से लेकर दूसरे व तीसरे शतकों तक, जाना जाता था कि यहूदीवाद व ईसाईधर्म की मान्यताएं एक या अनेक देवताओं पर आधारित हैं। अतः, एकेश्वरवाद का अब्राहमिक धर्मों में क्रमशः विकास हुआ।

चूंकि वेदों में पाए गए एकेश्वरवाद की अवधारणा अब्राहमिक धर्मों से बहुत प्राचीन है, यह निष्कर्ष तर्कसंगत है कि अब्राहमिक धर्मों ने वैदिक धर्मों से ही इस विचार का ग्रहण किया है। अंतराल में, जोरास्टर के प्रभाव से, फारसियों ने भारत से एकेश्वरवाद के विचार को अपनाया और उसे मध्य-पूर्वी सभ्यताओं में प्रेषित किया। वाकई, एक-ईश्वरवाद सदैव भारतीय वैदिक शास्त्रों का केन्द्रीय विषय रहा है।

परन्तु, वेदों के तत्त्वज्ञान को गम्भीरता से समझने में नाकामी या संभवतः पश्चिमी विचार व धर्मों के मुकाबले वैदिक ज्ञान की श्रेष्ठता के कारण, सांस्कृतिक रूप से अभिन्नस्त होकर, यूरोपेन्द्रित विद्वानों और रूढिवादी धार्मिकों ने भारतीय वैदिक सभ्यता को अधिकारहीन बना दिया है। जर्मन विद्वान मैक्स म्यूलर ने १९ वीं सदी में, आर्य-आक्रमणवाद की सृष्टि के द्वारा इस विषय पर और अधिक गलत सूचना का प्रचार किया, यह कहकर की वैदिक सभ्यता का जन्म भारत में नहीं हुआ। किंतु ये सब सत्य से काफी दूर हैं।

म्यूलर के अनुसार आर्यन एक यूरोपीय खानाबदोश जनजाति थे जिन्होने भारत पर आक्रमण किया। परन्तु इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि आर्यन खानाबदोश थे। दरसल, यह सुझाव कि एक असभ्य खानाबदोश आदिवासियों

ने वेदों जैसे गहन ज्ञान से परिपूर्ण शास्त्रों की रचना की होगी, इस बात की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

और तो और, वेदों में किसी मातृभूमि का भी कोई उल्लेख नहीं है, और पुरातात्त्विकी अन्वेषणों में भी प्रमाणों के पूरे अभाव के कारण यह भी कहा नहीं जा सकता कि कोई आक्रमण कभी हुआ था। अतः, केवल यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आर्यन जनसमूह और वैदिक विद्या सदैव भारतीय ही रहे हैं।

वैदिक ज्ञान कहता है कि विष्णु / कृष्ण ही परम भगवान् हैं और अन्य लघुतर देवी -देवताएं जैसे कि ब्रह्मा, शिव, गणेश, कार्तिकेय, काली, सरस्वती आदि, वस्तुतः परमपुरुष के सेवक हैं और उन्हें प्रकृति के लौकिक प्रशासन की व्यवस्था संबंधी कर्तव्यों को करने के लिए सशक्त किया गया है। उपर्युक्त श्लोकों में श्री कृष्ण, देवताओं के प्रति भोग-अर्पण करने की संस्तुति करते हैं, इस प्रकार देवताएं प्रसन्न होते हैं और मानवजाती के जीवन की सभी आवश्यकताओं को वे पूरा करते हैं। संक्षेप में, यही लौकिक कर (टैक्स) की प्रणाली है। दूसरे शब्दों में, हमें देवताओं का शुल्क चुकाना चाहिए।

आत्मा का भी अंतर्भूत स्वभाव सेवा व त्याग ही होता है। वैधानिक रूप से आत्मा, जो अवयव समष्टि (परम-सत्य) का अंश है, वह इस जन्म में तो क्या, वह अनन्तकाल के लिए समष्टि की सेवा करने के लिए कर्तव्य बद्ध है। जब श्री कृष्ण (विष्णु) को शाकाहारी व्यंजन जो कि फल, सब्जी इत्यादि से बना होता है, उसके बाद ऐसे प्रसाद को ग्रहण करने से हमारे इन्द्रियां शुद्ध होती हैं। परन्तु यदि कोई संसार के स्वामी के प्रति आभार प्रकट किए बिना ही इस संसार की वस्तुओं का उपभोग करता है तो वह केवल कर्म की प्रतिक्रिया का फल भोगना पड़ता है। यह नियम हमारे दैनिक आहार पर भी लागू होता है, जिसे खाने से पहले उसे विष्णु या कृष्ण को अर्पित करना चाहिए। भगवद्गीता में आगे श्री कृष्ण द्वारा यह समझाया जाता है कि भगवान् के भोग में केवल सब्जी, फल, दूध के उत्पाद, एवं फूल आदि ही चढ़ाए जा सकते हैं। मांसाहारी भोजन विष्णु या कृष्ण को अर्पित नहीं किया जा सकता - इसलिए विष्णु या कृष्ण के सभी भक्त शाकाहारी होते हैं। कृष्ण यह भी समझाते हैं कि जो परम-सत्य (भगवान्) की सेवा करते हैं वे अन्य देवी-देवताओं की सेवा करने के लिए बाध्य नहीं होते हैं, और न कोई सामाजिक नियमों के अधीन होते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता

**कर्म ब्रह्मोद्धवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्धवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ ३-१५ ॥**

यह जानो कि निर्धारित कर्म वेदों से प्राप्त होते हैं, और वेद अविनाशी परम-सत्य से उद्धव होते हैं। इस प्रकार, सर्वभूत परम-सत्य नित्य यज्ञ-कार्यों में विद्यमान होता है।

**एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अधायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थं स जीवति ॥ ३-१६ ॥**

हे पार्थ, जो संसार में रहकर इस वैदिक व्यवस्था को अस्वीकार करता है, वह केवल इन्द्रियों के सुख के लिए एक अधर्मी जीवन बिताता है - इस तरह वह अपना जीवन व्यर्थ कर देता है।

**यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥ ३-१७ ॥**

परन्तु, जो व्यक्ति स्वयं में ही सुख अनुभव करता है, उसका कोई कर्तव्य नहीं होता। वह स्वयं में ही सुखी रहता है, और अंतरतः पूर्ण रूप से आत्मसंतुष्ट होता है।

**नैव तस्य कृतेनाओं नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ ३-१८ ॥**

इस संसार में वह ना तो कर्म करने से, ना कर्म न करने से लाभ प्राप्त करता है। न वह दूसरों पर निर्भर होता है।

**तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्मं परमाप्नोति पूरुषः ॥ ३-१९ ॥**

इसलिए, फल के प्रति अनासक्त रहकर अपने निर्धारित कर्मों को अच्छी तरह से करते जाओ। अनासक्त रहकर कर्म करने से व्यक्ति परम-सत्य प्राप्त करता है।

**कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसङ्घमेवापि सम्पश्यन्कर्तुर्मर्हसि ॥ ३-२० ॥**

बीते समय में, जनक आदि जैसे राजाओं ने अपने निर्धारित कर्मों के निष्पादन द्वारा परम-सिद्धि प्राप्त की। जन-सामान्य के लिए एक उचित आदर्श स्थापित करने के लिए तुम्हें भी इस प्रकार उचित आचरण करना होगा।

यददाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ ३-२१ ॥

जिस तरह एक महान व्यक्ति अपना आचरण करता है सामान्य जनता भी उसी तरह उसका अनुसरण करती है। तदनुसार, अपने कार्यों से जो आदर्श वह प्रस्तुत करता है, अन्य लोग भी उसीके पदचिह्नों पर उसका अनुसरण करते हैं।

~ अनुवृत्ति ~

वैदिक प्रणाली में राजनैतिक व आध्यात्मिक नेतृत्व का अर्थ है कि स्वयं मिसाल बनकर दूसरों का नेतृत्व करें। दुर्भाग्यवश, आज संसार में, अच्छे नेता मुश्किल से पाए जाते हैं। न केवल यह जानकर हम निराश हैं कि जिन नेताओं को हमने सार्वजनिक कार्यालयों के अधिकारी पदों पर चुने हैं, प्रायः वे अपने ही लाभ के लिए देश की धन-संपत्ति ऐंठ जाते हैं, बल्कि हम यह देखकर और भी हैरान हैं कि हमारे कई तथाकथित आध्यात्मिक गुरु सबसे बुनियादी सदाचार के नियमों का भी पालन नहीं कर सकते, और घृणाजनक भ्रष्टाचार में संलग्न पाए जाते हैं।

उपर्युक्त श्लोक में श्री कृष्ण कहते हैं कि एक महान व्यक्ति के आचार-व्यवहार का जन-सामान्य अनुसरण करती है। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि कैसे फिल्म स्टार, रोकस्टार, और खेल के विरव्यात खिलाड़ी अधिकांश जनता को प्रभावित करते हैं। यह केवल एक मानवीय स्वभाव है कि हम दूसरों से प्रभावित हो जाते हैं, इसलिए प्रेरणास्रोत व्यक्तियों का होना आवश्यक है। किंतु मानव समाज को ऐसे प्रेरणास्रोत व्यक्ति चाहिए जो ज्ञानपूर्ण हों, सुसंस्कृत हों, सदाचारी हों और आध्यात्मिक रूप में उन्नत हों।

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन ।
नानवास्तमवास्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥ ३-२२ ॥

हे पार्थ, तीनों लोकों में मेरा कोई कर्तव्य नहीं है। मुझमें कोई अभाव नहीं है और ना मैं कुछ पाना चाहता हूँ - फिर भी मैं कार्य नियुक्त रहता हूँ।

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्दितः ।
मम वानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ ३-२३ ॥

यदि मैं कार्य करना छोड़ दूँ तो सब लोग मेरा ही पथ अपनाएंगे और अपने निर्धारित कर्मों की अवहेलना करेंगे।

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥ ३-२४ ॥

यदि मैं उचित आचार-व्यवहार न करूँ, तो सामान्य जनता का सर्वनाश हो जाएगा और अवांछित संतानों का मैं जिम्मेदार बन जाऊँगा। इस तरह मैं स्वयं प्रजा के नाश का कारण बन जाऊँगा।

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुलोकसङ्गहम् ॥ ३-२५ ॥

हे भरतवंशी अर्जुन, जिस तरह अज्ञानी अपने कर्मों से आसक्त होते हैं, उसी तरह बुद्धिमान को भी सबके कल्याण के लिए अपना कर्म करना चाहिए, किंतु अनासक्त रहकर।

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसञ्ज्ञिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥ ३-२६ ॥

बुद्धिमान लोगों को कभी भी स्वार्थी कर्मों से आसक्त अज्ञानीयों के मन को अशांत नहीं करना चाहिए। बल्कि, बुद्धिमानों को अनासक्त रहकर अपने कर्तव्यों का पूरी तरह से पालन करना चाहिए, और अज्ञानीयों को प्रोत्साहन देकर उन्हें पुण्य कर्मों में संलग्न करना चाहिए।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ता॑हमिति मन्यते ॥ ३-२७ ॥

प्रकृति के त्रिगुण ही सभी कार्यों के कर्ता हैं। परन्तु जो स्वयं के शारीरिक मिथ्याबोध से मोहित होते हैं, वे सोचते हैं कि, “कर्ता मैं हूँ।”

~ अनुवृत्ति ~

उपर्युक्त श्लोकों में श्री कृष्ण कहते हैं कि उनके लिए कोई कार्य करने की आवश्यकता ही नहीं है, और ना उनमें कोई अभाव है, न उन्हें कुछ प्राप्त करना है। दूसरे शब्दों में कृष्ण पहले से ही सिद्ध और परिपूर्ण हैं - ॐ पूर्णम्। फिर भी कृष्ण कार्य करने में व्यस्त रहते हैं; वे निष्क्रिय नहीं हैं। प्रत्येक युग में धर्म की स्थापना के लिए एवं मानवजाति के कल्याण के लिए वे कार्य करते हैं - धर्म तु साक्षाद् भगवत् प्रणीतं। जब परम-पुरुष के कोई अवतार अपना अविर्भाव इस भौतिक जगत में करते हैं, तो वे सनातन धर्म की स्थापना के लिए ही करते

श्री कृष्ण द्वापरयुग के अन्त में लगभग ५२४७ वर्ष पूर्व (३२२८ बीसी) में प्रकट हुए और उन्होंने भगवद्गीता के उपदेश दिए। परन्तु, यह कृष्ण का सबसे नवीनतम अविर्भाव नहीं था। कलियुग के आरंभ के पश्चात, श्री कृष्ण फिर प्रकट हुए थे, अब से ५३३ वर्ष पूर्व (१४८६ ईस्वी)। कलियुग के कृष्णावतार, श्री चैतन्य महाप्रभु के नाम से जाने जाते हैं। श्री चैतन्य महाप्रभु के अवतार में, कृष्ण ने भगवद् गीता के अध्ययन के साथ, संकीर्तन - महामन्त्र के सामूहिक कीर्तन की प्रक्रिया को सिखाया। महामन्त्र के विषय में कलि-सन्तरण उपनिषद् में यह उल्लेख है -

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे ॥

इति षोडशकं नामां कलि-कल्मष नाशनम् ।
नातः परतरोपायः सर्व-वेदेषु दृश्यते ॥

महामन्त्र के ये सोलह शब्द विशेष रूप से कलियुग के पाप के निवारण हेतु निर्दिष्ट हैं। कृष्ण के नामों के जाप के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं। वेद-शास्त्रों में सर्वत्र खोजने के उपरांत भी कलियुग के लिए इससे अधिक उत्कृष्ट विधि कहीं पाई नहीं जा सकती। (कलि-सन्तरण उपनिषद् २)

महामन्त्र की दिव्य-शक्ति का विवरण पद्म-पुराण में इस प्रकार दिया जाता है -

नाम चिन्तामणिः कृष्णश्वैतन्य-रस-विग्रहः ।
पूर्णः शुद्धो नित्यमुक्तोऽभिन्नत्वन् नाम-नामिनोः ॥

श्री कृष्ण का नाम एक ऐसी दिव्य चिन्तामणि है जो समस्त दिव्य-रसों से भरपूर है। पूर्ण, शुद्ध, और नित्य मुक्ति प्रदाता कृष्णनाम, कृष्ण से अभिन्न है।

भगवद्गीता का अध्ययन और संकीर्तन की पद्धति अब सारे विश्व में फैल चुकी है। अब ये मात्र भारत में पाई जाने वाली वस्तुएं नहीं हैं। इस विषय पर अध्याय ४, श्लोक ८ में और भी चर्चा की जाएगी।

कर्म के उचित प्रकार को और कर्म के फलों के स्वामी को केवल तब समझा जा सकते हैं, जब व्यक्ति स्वयं के शारीरिक परिचय से, या अपने आत्मा को केवल एक शारीरिक उपोत्पाद समझने के विचार से, या स्वयं को ही अपने कर्मों का कर्ता समझने के विचार से मुक्त हो जाता है।

हम चलते हैं, बात करते हैं, खाना पचाते हैं, इमारतें खड़ी करते हैं, यहाँ तक की सामराज्य भी बना लेते हैं, किंतु ये सारे उद्यम प्रकृति के त्रिगुणों के मेल-मिलाप से, और विश्वव्यापी महत्प्रज्ञा परमात्मा के अनुमोदन से ही हमारे लिए संभव होते हैं। जीवन की शारीरिक अवधारणा में बद्ध लोगों के लिए इन सब क्रियाओं के कार्यान्वयन की प्रक्रिया अचिंतनीय है। इसलिए, मिथ्या अहंकार से उगनेवाले इस विचार को, कि “मैं यह शरीर हूँ”, उसका परित्याग कर देना चाहिए। हम कौन हैं? हम कहाँ से आए हैं? हम यहाँ पर क्यों हैं? क्या मृत्यु के पश्चात फिर जीवन है? इन सब प्रश्नों के उत्तर अपने आप समझमें आने लगते हैं जब व्यक्ति स्वयं को एक शरीर समझना छोड़ देता है। पश्चिमी सभ्यता के कई महान विचारकों ने जीवन और मृत्यु के मौलिक प्रश्नों पर बहुत संघर्ष किया, लेकिन वे उनके उत्तर खोजने में या इन समस्याओं के समाधान खोजने में नाकाम रहे। आत्म-साक्षात्कार और परम-सत्य का विज्ञान, जीवन की शारीरिक अवधारणा के परित्याग से ही आरंभ होती है।

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥ ३-२८ ॥

और फिर भी, हे महाबाहु, कर्म और प्राकृतिक गुणों के सत्य का जानकार, यह जानता है कि ये सब केवल त्रिगुणों की परस्पर अन्तःक्रिया है, और इस कारण वह अनासक्त रहता है।

प्रकृतेर्गुणसमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्क्विदो मन्दान्कृत्क्विन्न विचालयेत् ॥ ३-२९ ॥

त्रिगुणों के प्रभाव से विमूढ़ लोग, उन्हीं गुणों से संचालित लौकिक क्रियाओं में डूबे रहते हैं। बुद्धिमान को कभी भी इन अज्ञानियों को अशांत नहीं करना चाहिए।

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥ ३-३० ॥

मुझ पर अपने सभी कर्मों को संपूर्ण रीत से समर्पित कर, अपनी प्रज्ञा को पूरी तरह से अपनी आत्मा में स्थापित कर, बिना किसी स्वार्थ के, बिना किसी प्रभुत्व की भावना के, और खेद-रहित होकर - युद्ध करो!

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥ ३-३१ ॥

जो मेरे इन उपदेशों का श्रद्धापूर्वक अनुसरण, ईर्ष्या-रहित होकर करे, वे कर्म के बंधन से मुक्त हो जाएंगे।

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥ ३-३२ ॥

परन्तु, यह जान लो कि जो ईर्ष्या के कारण मेरे उपदेशों का अनुसरण नहीं करते, वे समस्त ज्ञान से वंचित हैं। जीवन का लक्ष्य उनकी आँखों से ओदाल हो चुका है, और वे बुद्धिहीन हैं।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेऽर्जानवानपि ।
प्रकृति यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥ ३-३३ ॥

एक प्रज्ञावान व्यक्ति भी अपने स्वभाव के अनुसार ही बर्ताव करता है। जब सभी जीव अपने अपने स्वभावों के अनुसार ही आचरण करते हैं, तो निग्रह से क्या संपन्न होता है?

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥ ३-३४ ॥

इन्द्रिय, विषय वस्तुओं से आकर्षित व विकर्षित होते हैं। किंतु व्यक्ति को ऐसे आकर्षण व विकर्षण के वश नहीं होना चाहिए।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ ३-३५ ॥

अपने ही निर्धारित धर्मों को त्रुटिपूर्ण ढंग से करना, किसी और के धर्मों के उत्तम निष्पादन से श्रेष्ठतर है। अपने ही धर्मों को निभाते मर जाना अच्छा है, क्योंकि दूसरों के धर्मों को करना संकटपूर्ण है।

~ अनुवृत्ति ~

सांसारिक जीवन में अनेक दोष हैं। यहाँ पर श्री कृष्ण ने कुछ ऐसे दोष बताए हैं जिन्हें भगवद्गीता के गंभीर अव्येताओं को मुख्य रूप से ध्यान में रखने चाहिए। श्री कृष्ण ने अविद्या, मूर्खता, स्वार्थी अभिप्रेरण, मिथ्या स्वामित्व की भावना, तथा विषय वस्तुओं के प्रति आकर्षण व विकर्षण, यहाँ वर्णित किए हैं। किंतु सबसे भयंकर दोष है ईर्ष्या। ऐसा मालूम होता है कि ईर्ष्या पूरी तरह से दोषपूर्ण होता है, जैसे कि कृष्ण कहते हैं कि जो भगवद्गीता के उपदेशों को ईर्ष्या के कारण नहीं मानते वे समस्त ज्ञान व प्रज्ञता से वंचित हो जाते हैं।

एक और खतरा यह है कि अपने निर्धारित धर्म को छोड़कर किसी और के धर्म का पालन करना। दूसरे शब्दों में, कृष्ण अर्जुन को अपने काम से काम रखने की सलाह देते हैं। अर्जुन एक क्षत्रिय है, और जैसे कि पहले चर्चा की गई थी, उनका धर्म है राज्य की रक्षा करना। परन्तु अर्जुन वैराग्य की ओर झुक रहे थे - संन्यासी बनना चाहते थे। अर्जुन अपने धर्म को छोड़कर पराया धर्म अपनाना चाहते थे, किंतु कृष्ण उन्हें चेतावनी देते हैं कि यह अच्छी बात नहीं। दरसल, कृष्ण यह भी कहते हैं कि ऐसा करना खतरनाक है। कृष्ण समझाते हैं कि अपने निर्धारित धर्म को त्रुटिपूर्ण ढंग से करना, पराए धर्म को अच्छी तरह करने से बेहतर है।

विशेष तौर पर यहाँ श्री कृष्ण अर्जुन को क्षत्रिय धर्म के नियमों का अनुसरण करने के लिए प्रोत्साहित कर रहे हैं - जिसके अनुसार रणभूमी को छोड़कर चले जाना कोई विकल्प नहीं।

अध्याय ३ – कर्म योग

अर्जुन उवाच ।
अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापंचरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥ ३-३६ ॥

अर्जुन ने पूछा - हे कृष्ण, हे वार्ष्णेय, वह क्या है जो व्यक्ति को अपनी इच्छा के विरुद्ध, जैसे की ज्ञवरन, पाप करने पर उत्तेजित करता है।

श्रीभगवानुवाच ।
काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्येनमिह वैरिणम् ॥ ३-३७ ॥

भगवान् श्री कृष्ण बोले - वह काम है, जो रजोगुण से प्रकट होनेवाले क्रोध में परिवर्तित हो जाता है। यह जानों की यह काम बिल्कुल ही अतोषणीय है और अत्यंत अमंगलकारी है। इस संसार का यही सबसे बड़ा शत्रु है।

धूमेनाब्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥ ३-३८ ॥

जिस तरह आग को धुआं ढकता है, दर्पण को धूल ढकता है, और जिस तरह भ्रूण को गर्भाशय ढकता है, उसी तरह काम जीव की चेतना को ढक देता है।

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्प्रैणानलेन च ॥ ३-३९ ॥

हे कौन्तेय, सब कुछ भस्म कर देनेवाले प्रचण्ड अग्नि के समान, शाश्वत अभिशाप के रूप में यह काम, एक प्रज्ञावान व्यक्ति के विवेक को भी ढक सकता है।

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥ ३-४० ॥

ऐसा कहा जाता है कि इस वैरी के अधिष्ठान इन्द्रियां, मन, एवं बुद्धि हैं। व्यक्ति के ज्ञान को आवृत कर, देहबद्ध जीवात्मा को यह भ्रमित कर देता है।

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥ ३-४१ ॥

अतः हे भरतश्रेष्ठ, तुम्हें पहले अपने इन्द्रियों को वश में करना होगा और काम को मिटाना होगा, जो समस्त अधार्मिकता का मूर्त रूप है और जो ज्ञान व विज्ञान का नाशक है।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥ ३-४२ ॥

प्रज्ञावान कहते हैं कि विषय वस्तुओं से इन्द्रियां श्रेष्ठतर हैं, मन इन्द्रियों से श्रेष्ठतर हैं, बुद्धि मन से श्रेष्ठतर है, और बुद्धि से श्रेष्ठतर है आत्मा।

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रु महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥ ३-४३ ॥

हे महाबाहु अर्जुन, आत्मा को बुद्धि से श्रेष्ठतर समझकर, विशुद्ध चेतना से मन को स्थिर करो, और इस तरह काम-रूपी इस अदम्य शत्रु को परास्त करो।

~ अनुवृत्ति ~

यहाँ यह बताया गया है कि मन इन्द्रियों से श्रेष्ठ है और बुद्धी मन से, परन्तु बुद्धि से उपर है चेतना या आत्मा। मन, इन्द्रिय, और बुद्धि से भौतिक शरीर बनता है, और इसलिए इन्हें जड़ पदार्थ समझा जाता है। भगवद्गीता के सातवें अध्याय के चौथे श्लोक में श्री कृष्ण आठ भौतिक पदार्थों की सूची देते हैं - भूमि, जल, अग्नि, हवा, व्योम, मन, बुद्धी, तथा अहंकार। फिर अगले श्लोक में कृष्ण एक श्रेष्ठतर शक्ति का परिचय देते हैं और वह है जीव-भूत - चेतना के व्यष्टिगत ईकाईयां या आत्मा। कृष्ण कहते हैं कि जीव-भूत या आत्मा, स्पष्ट रूप से भौतिक पदार्थों से अलग है। वह पूरी तरह से आध्यात्मिक है।

किंतु जब पूरी तरह हावी होने वाली, आत्म-साक्षात्कार की शत्रु, काम-वासना, उच्चतर जीव-भूत के मन, इन्द्रिय, और बुद्धी को आवृत कर ले तब व्यक्ति के ज्ञान व विज्ञान का नाश हो जाता है। इस कारण श्री कृष्ण कहते हैं कि पहले एक योगी को काम-वासना पर विजय पाना चाहिए। यदि व्यक्ति अपने काम-वासना की तृष्णा को तृप्त करने के बजाय अपनी उच्चतर प्रज्ञा के सहारे अपने निचले स्वयं को वश में करता है, तो काम-वासना अंततः परास्त हो जाती है। परन्तु यदि वह अपनी काम की तृष्णा को तृप्त करने का प्रयास करता है तो यह जलती आग में घी डालने के समान होता है।

अध्याय ३ – कर्म योग

ॐ तत्सदिति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां
वैयासिक्यां भीष्मपर्वाणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु
ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥

ॐ तत् सत् – अतः व्यास विरचित शतसहस्र श्लोकों की श्री महाभारत ग्रन्थ के भीष्म-पर्व में पाए जाने वाले आध्यात्मिक ज्ञान का योग-शास्त्र - श्रीमद् भगवद् गीतोपनिषद् में श्री कृष्ण और अर्जुन के संवाद से लिए गए कर्म योग नामक तृतीय अध्याय की यहां पर समाप्ति होती है।

